ग्रंथ-संख्या—९९

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

इस पुस्तक के पहले दो संस्करण सुषमा निकुंज, प्रयाग
से प्रकाशित हुए थे।

पहला संस्करण—नवंबर, १९३८
दूसरा संस्करण—मार्च, १९४०
तीसरा संस्करण—फरवरी, १९४३
चौथा संस्करण—मई, १९४४
पाँचवाँ संस्करण—जून, १९४६

मूल्य १॥)

मुद्रक
महादेव एन० जो
लीडर प्रेस, इलाहा

विज्ञापन

आज 'निशानिमत्रण' का पाँचवाँ सस्करण उपस्थित करते समय हम बडी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। 'निशानिमत्रण' एक कहानी और एक सौ गीतो का सग्रह है। १३—१३ पक्तियो में लिखे गए ये गीत भावो की एकता, गठन और अपनी सपूर्णता में अग्रेजी के सॉनेट्स की समता करते हैं। गीतो को लिखने के लिए यह ढाँचा इतना उपयुक्त सिद्ध हुआ है कि आज हिंदी के अनेक कवि इसका अनुसरण एव अनुकरण कर रहे हैं।

जिस प्रकार 'मधुशाला' और 'मधुबाला' उन्माद से छलकते हुए कवि का उद्गार था उसी प्रकार 'निशानिमत्रण' और 'एकात सगीत' अवसाद में डूबे हुए कवि का उच्छ्वास है। रचना के पीछे कवि के जीवन की एक घटना है जिसका ज्ञान कदाचित पुस्तक को समझने में सहायक होगा। अपनी पूर्व पत्नी के देहावसान के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक उन्होने कुछ भी नहीं लिखा। बाद को उन्होंने जो कुछ लिखा वह 'निशानिमत्रण' के गीतों के रूप में प्रकाशित किया गया। यों तो बच्चन की प्रत्येक रचना कुछ न कुछ नूतनता साथ लिए आती है, परतु 'निशानिमंत्रण' की अपनी विशेषता ही अलग है। रात्रि के अधकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रजित कर उन्होंने गीतों की जो शृखला तैयार की है वह आधुनिक हिंदी कविता के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुडे हुए हैं कि यह सौ गीतों का सग्रह मात्र न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है।

कवि ने अपनी वेदना को कला के धरातल पर ले जाकर किस प्रकार सार्वजनीन बना दिया है इसे आगे के पृष्ठों में देखिए।

—प्रकाशक

निशा निमंत्रण

स्वर्गता श्यामा

को

समर्पित

सूची

गीतों की प्रथम पंक्ति पृ

गीतो की प्रथम पक्ति			पृष्ठ सख्या

गीतों की प्रथम पंक्ति

गीतों की प्रथम पंक्ति			पृष्ठ संख्या

गीतों की प्रथम पंक्ति

निशा निमन्त्रण के गीतः— पृष्ठ संख्या

एक कहानी

(१)

कहानी है सृष्टि के प्रारभ की। पृथ्वी पर मनुष्य था, मनुष्य में हृदय था, हृदय में पूजा की भावना थी, पर देवता न थे। वह सूर्य को अर्घ्यदान देता था, अग्नि को हविष समर्पित करता था, पर वह इतने से ही सतुष्ट न था। वह कुछ और चाहता था।

उसने ऊपर की ओर हाथ उठाकर प्रार्थना की, 'हे स्वर्ग, तूने हमारे लिए पृथ्वी पर सब सुविधाएँ दीं, पर तूने हमारे लिए कोई देवता नहीं दिया। तू देवताओं से भरा हुआ है, हमारे लिए एक देवता भेज दे जिसे हम अपनी भेंट चढा सकें, जो हमारी भेंट पाकर मुसकरा सके, जो हमारे हृदय की भावनाओं को समझ सके। हमें एक साक्षात देवता भेज दे।'

पृथ्वी के बाल-काल के मनुष्य की उस प्रार्थना में इतनी सरलता थी, इतनी सत्यता कि स्वर्ग पसीज उठा। आकाशवाणी हुई, 'जा, मदिर बना, शरद ऋतु की पूर्णिमा को जिस समय चद्रबिंब क्षितिज के ऊपर उठेगा उसी समय मंदिर में देवता प्रकट होंगे। जा, मदिर बना।' मनुष्य का हृदय आनद से गद्गद हो उठा। उसने स्वर्ग को बारंबार प्रणाम किया।

पृथ्वी पर देवता आएँगे!—इस प्रत्याशा ने मनुष्य के जीवन में अपरिमित स्फूर्ति भर दी। अल्पकाल मे ही मदिर का निर्माण हो गया। चदन का द्वार लग गया। पुजारी की नियुक्ति हो गई। शरद पूर्णिमा भी आ गई। भक्तगण सवेरे से ही जलपात्र और फूल-अक्षत के थाल ले-लेकर मदिर के चारों ओर एकत्र होने लगे। सध्या तक अपार जन समूह इकट्ठा हो गया। भक्तों की एक आँख पूर्व क्षितिज पर थी और दूसरी मंदिर के द्वार पर। पुजारी को आदेश था कि देवता के प्रकट होते ही वह शखध्वनि करे और मदिर का द्वार खोल दे।

पुजारी देवता की प्रतीक्षा में बैठा था—अपलक-नेत्र, उत्सुक-मन। सहसा देवता प्रकट हो गए। वे कितने सुंदर थे, कितने सरल थे, कितने सुकुमार थे, कितने कोमल! देवता देवता ही थे।

बाहर भक्तों ने चद्रबिंब देख लिया था। अगणित कंठों ने एक साथ नारे लगाए। देवता की जय, देवता की जय!—इस महारव से दसों दिशाएँ गूँज उठीं, पर मदिर से शंखध्वनि न सुन पड़ी!

पुजारी ने झरोखे से एक बार उस अपार जन समूह को देखा और एक बार सुंदर, सुकुमार, सरल देवता को। पुजारी काँप उठा।

समस्त जन समूह क्रुद्ध कठस्वर से एक साथ चिल्लाने लगा, 'मदिर का द्वार खोलो, खोलो।' पुजारी का हाथ कितनी बार साँकल तक जा-जाकर लौट आया।

हजारों हाथ एक साथ मंदिर के कपाट को पीटने लगे, धक्के देने लगे। देखते ही देखते चदन का द्वार टूटकर गिर पड़ा; भक्तगण मदिर में घुस पड़े। पुजारी अपनी आँखे मूंदकर एक कोने में खड़ा हो गया।

देवता की पूजा होने लगी। बात की बात में देवता फूलो से लद गए, फूलों मे छिप गए, फूलों से दब गए! रात भर भक्तगण इस पुष्प राशि को बढ़ाते रहे।

और सवेरे जब पुजारी ने फूलों को हटाया तो उसके नीचे थी देवता की लाश।

(२)

अब भी पृथ्वी पर मनुष्य था, मनुष्य में हृदय था, हृदय में पूजा की भावना थी, पर देवता न थे। अब भी वह सूर्य को अर्घ्यदान देता था, अग्नि को हविष समर्पित करता था, पर अब उसका असतोष पहले से कहीं अधिक था। एक बार देवता की प्राप्ति ने उसकी प्यास जगा दी थी, उसकी चाह बढ़ा दी थी। वह कुछ और चाहता था।

मनुष्य ने अपराध किया था और इस कारण लज्जित था। देवता की प्राप्ति स्वर्ग से ही हो सकती थी, पर वह स्वर्ग के सामने जाए किस मुँह से। उसने सोचा, स्वर्ग का हृदय महान है, मनुष्य के एक अपराध को भी क्या वह क्षमा न करेगा।

उसने सिर नीचा करके कहा, 'हे स्वर्ग, हमारा अपराध क्षमा कर, अब हमसे ऐसी भूल न होगी, हमारी फिर वही प्रार्थना है—पहले वाली।'

मनुष्य उत्तर की प्रत्याशा मे खड़ा रहा। उसे कुछ भी उत्तर न मिला।

बहुत दिन बीत गए। मनुष्य ने सोचा समय सब कुछ भुला देता है, स्वर्ग से फिर प्रार्थना करनी चाहिए।

उसने हाथ जोड़कर विनय की, 'हे स्वर्ग, तू अगणित देवताओं का आवास है, हमें केवल एक देवता का प्रसाद और दे, हम उन्हें बहुत सँभाल कर रक्खेंगे।'

मनुष्य का ही स्वर दिशाओं से प्रतिध्वनित हुआ। स्वर्ग मौन रहा।

बहुत दिन फिर बीत गए। मनुष्य हार नहीं मानेगा। उसका यत्न नहीं रुकेगा। उसकी आवाज स्वर्ग को पहुँचनी होगी।

उसने दृढता के साथ खडे होकर कहा, 'हे स्वर्ग, जब हमारे हृदय मे पूजा की भावना है तो देवता पर हमारा अधिकार है। तू हमारा अधिकार हमें क्यो नहीं देता!'

आकाश से गड़गड़ाहट का शब्द हुआ और कई शिलाखंड पृथ्वी पर आ गिरे।

मनुष्य ने बडे आश्चर्य से उन्हें देखा और मत्था ठोंककर बोला, 'वाह रे स्वर्ग, हमने तुझसे माँगा था देवता और तूने हमें भेजा है पत्थर! पत्थर!!'

स्वर्ग बोला, 'हे महान मनुष्य, जबसे मैंने तेरी प्रार्थना सुनी तब से मैं एक पाँव से देवताओं के द्वार-द्वार घूमता रहा हूँ। मनुष्य की पूजा स्वीकार करने का प्रस्ताव सुनकर देवता थरथर काँपते हैं। तेरी पूजा देवताओं को अस्वीकृत नहीं, असह्य है। तेरा एक पुष्प जब तेरे आत्मसमर्पण की भावना को लेकर देवता पर चढ़ता है तो उसका भार समस्त ब्रह्माड के भार को हल्का कर देता है। तेरा एक बूँद अर्घ्यजल जब तेरे विगलित हृदय के अश्रुओं का प्रतीक बनकर देवता को अर्पित होता है तब सागर अपनी लघुता पर हाहाकार कर उठता है। छोटे देवों ने मुझसे क्या कहा, उसे क्या बताऊँ। देवताओं में सबसे अधिक तेजोपुज सूर्य ने कहा था, मनुष्य पृथ्वी से मुझे जल चढ़ाता है, मुझे भय है किसी न किसी दिन मैं अवश्य ठडा पड़ जाऊँगा और मनुष्य किसी अन्य सूर्य की खोज करेगा ! हे विशाल मानव, तेरी पूजा को सह सकने की शक्ति केवल इन पाषाणों मे है !'

उसी दिन से मनुष्य ने पत्थरों का पूजना, आरभ किया था और यह जानकर हिमालय सिहर उठा था !

निशा निमंत्रण

१
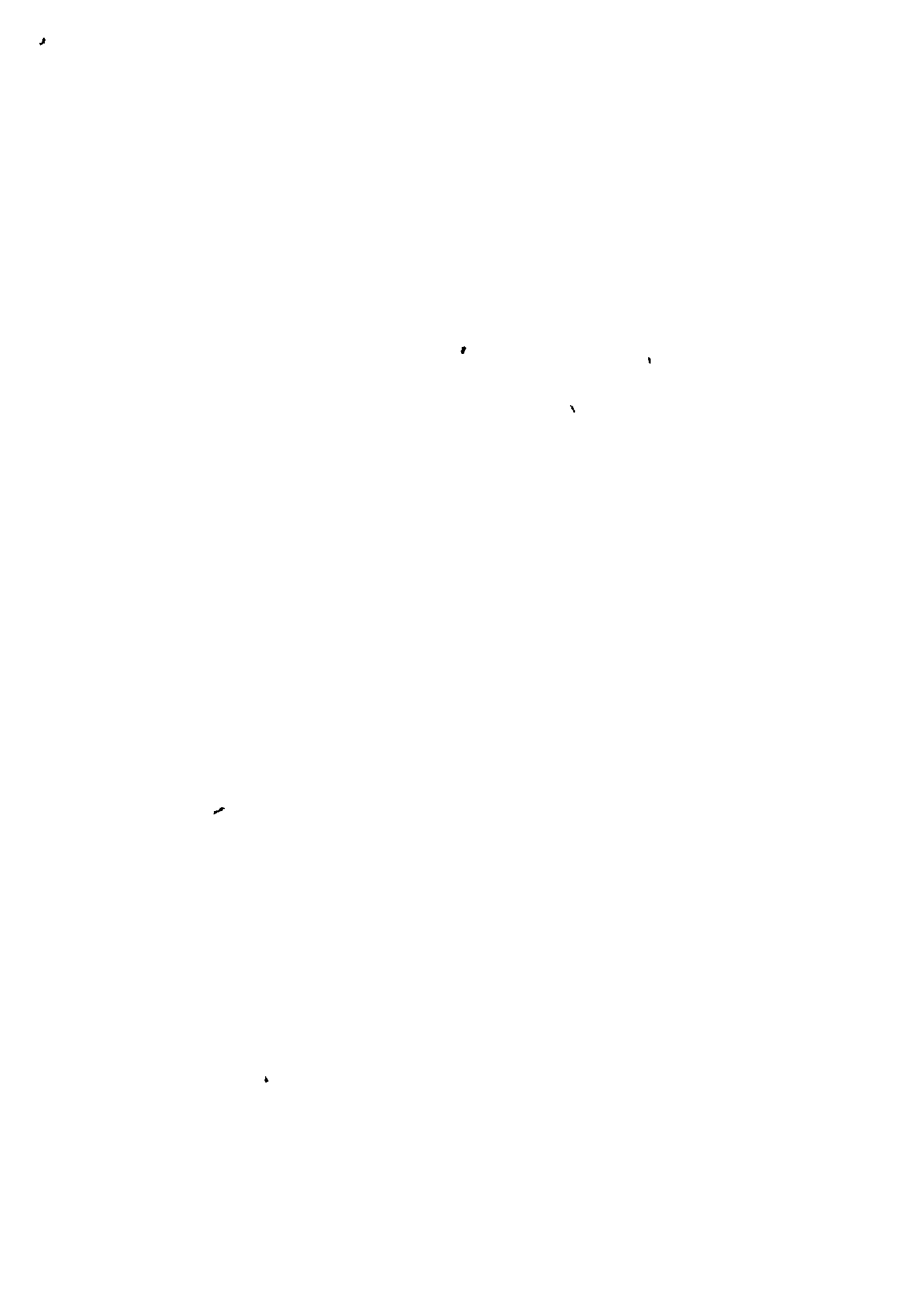
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है!

हो जाय न पथ में रात कहीं,
मंजिल भी तो है दूर नहीं—
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है!
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है!

बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीडों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है!
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है!

मुझसे मिलने को कौन विकल?
मैं होऊँ किसके हित चंचल?—
यह प्रश्न शिथिल करता पद को, भरता उर में विह्वलता है!
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है!

२

साथी, अत दिवस का आया !

तरु पर लौट रहे है नभचर,
लौट रहीं नौकाएँ तट पर,
पश्चिम की गोदी में रवि की श्रात किरण ने आश्रय पाया !
साथी, अत दिवस का आया !

रवि-रजनी का आलिंगन है,
सध्या स्नेह-मिलन का क्षण है,
कात-प्रतीक्षा में गृहिणी ने, देखो घर-घर दीप जलाया !
साथी, अत दिवस का आया !

जग के विस्तृत अधकार मे,
जीवन के शत-शत विचार में
हमें छोड़कर चली गई, लो, दिन की मौन सगिनी छाया !
साथी, अंत दिवस का आया !

३

साथी, साँझ लगी अब होने!

फैलाया था जिन्हें गगन में,
विस्तृत वसुधा के कण-कण में,
उन किरणों को अस्ताचल पर पहुँच लगा है सूर्य सँजोने!
साथी, साँझ लगी अब होने!

खेल रही थी धूलि कणों में,
लोट लिपट गृह-तरु-चरणों में,
वह छाया, देखो, जाती है प्राची में अपने को खोने!
साथी, साँझ लगी अब होने!

मिट्टी से था जिन्हे बनाया,
फूलों से था जिन्हें सजाया,
खेल-घिरौंधे छोड़ पथों पर चले गए हैं बच्चे सोने!
साथी, साँझ लगी अब होने!

४

सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।

रँगती स्वर्णिम रज से सुंदर
निज नीड-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।
सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।

करती सरिता का जल पीला
जो था पल भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर - सा चमकाती है।
सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।

उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है,
आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की-सी बन जाती है!
सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।

५

बीत चली संध्या की वेला !

धुँधली प्रति पल पड़नेवाली
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !
बीत चली संध्या की वेला !

नभ में कुछ द्युतिहीन सितारे
माँग रहे हैं हाथ पसारे—
'रजनी आए, रवि किरणों से हमने है दिन भर दुख झेला !'
बीत चली संध्या की वेला !

अंतरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक—अकेला !
बीत चली संध्या की वेला !

—

६

चल बसी सध्या गगन से !

क्षितिज ने ली साँस गहरी
और सध्या की सुनहरी
छोड दी सारी, अभी तक था जिसे थामे लगन से!
चल बसी सध्या गगन से !

हिल उठे तरु-पत्र सहसा,
शाति फिर सर्वत्र सहसा
छा गई, जैसे प्रकृति ने ली विदा दिन के पवन से !
चल बसी सध्या गगन से !

बुलबुलो ने पाटलों से,
षट्पदो ने शतदलों से
कुछ कहा—यह देख मेरे गिर पडे आँसू नयन से !'
चल बसी सध्या गगन से !

७

उदित सध्या का खितारा !

थी जहाँ पल-पूर्व लाली,
रह गई कुछ रेख काली,
अब दिवाकर का गया मिट तेज सारा, ओज सारा !
उदित सध्या का सितारा !

शोर स्यारो ने मचाया,
'(अधकार) हुआ'—बताया,
रात के प्रहरी उलूकों ने उठाया स्वर-कुठारा ।
उदित सध्या का खितारा !

काटती थी धार दिन भर
पाँव जिसके तेज चलकर,
चौंकना मत, अब गिरेगा टूट दरिया का कगारा !
उदित संध्या का सितारा !

८

अंधकार बढ़ता जाता है!

मिटता अब तरु-तरु में अंतर,
तम की चादर हर तरुवर पर,
केवल ताड़ अलग हो सबसे अपनी सत्ता बतलाता है।
अंधकार बढ़ता जाता है!

दिखलाई देता कुछ-कुछ मग,
जिसपर शंकित हो चलते पग,
दूरी पर जो चीजें उनमें केवल दीप नजर आता है।
अंधकार बढ़ता जाता है!

डर न लगे सुनसान सड़क पर,
इसीलिए कुछ ऊँचा स्वर कर
विलग साथियों से हो कोई पथिक, सुनो, गाता आता है।
अंधकार बढ़ता जाता है!

९

अब निशा नभ से उतरती!

देख, है गति मद कितनी
पास यद्यपि दीप्ति इतनी,
क्या सबों को जो डराती वह किसी से आप डरती?
अब निशा नभ से उतरती!

थी किरण अगणित बिछी जब,
पथ न सूझा! गति कहाँ अब?—
कुछ दिखाता दीप अम्बर, कुछ दिखाती दीप धरती!
अब निशा नभ से उतरती!

था उजाला जब गगन में,
था अँधेरा ही नयन में,
रात आती है हृदय में भी तिमिर-अवसाद भरती।
अब निशा नभ से उतरती!

१०

तुम तूफ़ान समझ पाओगे ?

गीले बादल, पीले रजकण,
सूखे पत्ते, रूखे तृण घन
लेकर चलता करता 'हरहर'—इसका गान समझ पाओगे ?
तुम तूफान समझ पाओगे ?

गंध-भरा यह मद पवन था,
लहराता इससे मधुवन था,
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान, समझ पाओगे ?
तुम तूफान समझ पाओगे ?

तोड़-मरोड़ विटप - लतिकाएँ,
नोच-खसोट कुसुम-कलिकाएँ
जाता है अज्ञात दिशा को ! हटो विहंगम, उड़ जाओगे !
तुम तूफान समझ पाओगे ?

—

११

प्रबल झंझावात, साथी !

देह पर अधिकार हारे,
विवशता से पर पसारे,
करुण रव-रत पक्षियों की आ रही है पाँत, साथी !
प्रबल झंझावात, साथी !

शब्द 'हरहर', शब्द 'मरमर'—
तरु गिरे जड़ से उखड़कर,
उड़ गए छत और छप्पर, मच गया उत्पात, साथी !
प्रबल झंझावात, साथी !

हँस रहा संसार खग पर,
कह रहा जो आह भर-भर—
'लुट गए मेरे सलोने नीड़ के तृण-पात !' साथी !
प्रबल झंझावात, साथी !

———

१२

है यह पतझड़ की शाम, सखे !

नीलम से पल्लव टूट गए,
मरकत-से साथी छूट गए,
अटके फिर भी दो पीत पात जीवन-डाली को थाम, सखे !
है यह पतझड़ की शाम, सखे !

लुक - छिपकरके गानेवाली,
मानव से शरमानेवाली,
कू-कू कर कोयल माँग रही नूतन घूँघट अविराम, सखे !
है यह पतझड़ की शाम, सखे !

नंगी डालों पर नीड़ सघन,
नीड़ों में है कुछ-कुछ कंपन;
मत देख, नजर लग जाएगी, यह चिड़ियों के सुखधाम, सखे !
है यह पतझड़ की शाम, सखे !

१३

यह पावस की साँझ रँगीली !

फैला अपने हाथ सुनहले
रवि, मानो जाने से पहले,
लुटा रहा है बादल-दल में अपनी निधि कंचन-चमकीली !
यह पावस की साँझ रँगीली !

घिरे घनों से पूर्व गगन में,
आशाओं-सी मुर्दा मन में,
जाग उठीं सहसा रेखाएँ—लाल, बैंगनी, पीली, नीली !
यह पावस की साँझ रँगीली !

इंद्रधनुष की आभा सुंदर
साथ खड़े हो इसी जगह पर
थी देखी उसने औ' मैंने—सोच इसे अब आँखें गीली !
यह पावस की साँझ रँगीली !

१४

दीपक पर परवाने आए !

अपने पर फड़काते आए,
किरणों पर बल खाते आए,
बड़ी-बड़ी इच्छाएँ लाए, बड़ी-बड़ी आशाएँ लाए !
दीपक पर परवाने आए !

जले ज्वलित आलिंगन में कुछ,
जले अग्निमय चुंबन में कुछ,
रहे अधजले, रहे दूर कुछ, किंतु न वापस जाने पाए !
दीपक पर परवाने आए !

पहुँच गई बिस्तुइया सत्वर
लिए उदर की ज्वाल भयंकर;
बचे प्रणय की ज्वाला से जो, उदर-ज्वाल के बीच समाए !
दीपक पर परवाने आए !

—

१५

वायु बहती शीत - निष्ठुर !

ताप - जीवन - श्वास वाली,
मृत्यु - हिम - उच्छ्वास वाली !
क्या जला, जलकर बुझा, ठंडा हुआ फिर प्रकृति का उर ?
वायु बहती शीत - निष्ठुर !

पड़ गया पाला धरा पर,
तृण, लता तरु-दल ठिठुरकर
हो गए निर्जीव से—यह देख मेरा उर भयातुर !
वायु बहती शीत - निष्ठुर !

थी न सब दिन त्रासदाता
वायु ऐसी—यह बताता
एक जोड़ा पेड़की का डाल पर बैठा सिकुड़-जुड़ !
वायु बहती शीत - निष्ठुर !

१६

गिरजा से घटे की टन-टन !

मदिर से शखों की तानें,
मस्जिद से पाबंद अज़ानें
उठकर नित्य किया करती हैं अपने भक्तों का आवाहन !
गिरजा से घटे की टन-टन !

मेरा मदिर था, प्रतिमा थी,
मन में पूजा की महिमा थी,
किंतु निरभ्र गगन से गिरकर वज्र गया कर सबका खडन !
गिरजा से घटे की टन-टन !

जब ये पावन ध्वनियाँ आती,
शीश झुकाने दुनिया जाती,
अपने से पूछा करता मैं, करूँ कहाँ मैं, किसका पूजन ?
गिरजा से घटे की टन-टन !

१७

अब निशा देती निमत्रण।

महल इसका तम-विनिर्मित,
ज्वलित इसमें दीप अगणित,
द्वार निद्रा के सजे हैं स्वप्न से शोभन-अशोभन !'
अब निशा देती निमत्रण !

भूत-भावी इस जगह पर
वर्तमान - समान होकर
सामने हैं देश-काल-समाज के तज सब नियन्त्रण !'
अब निशा देती निमत्रण !

सत्य कर सपने असभव !—
पर, ठहर, नादान मानव !—
हो रहा है साथ में तेरे बड़ा भारी प्रवचन !
अब निशा देती निमत्रण !

१८

स्वप्न भी छल, जागरण भी !

भूत केवल जल्पना है,
औ' भविष्यत कल्पना है,
वर्तमान लकीर भ्रम की ! और है चौथी शरण भी ?
स्वप्न भी छल, जागरण भी !

मनुज के अधिकार कैसे !
हम यहाँ लाचार ऐसे,
कर नहीं इन्कार सकते, कर नहीं सकते वरण भी !
स्वप्न भी छल, जागरण भी !

जानता यह भी नहीं मन—
कौन मेरी थाम गर्दन
है विवश करता कि कह दूँ, व्यर्थ जीवन भी, मरण भी !
स्वप्न भी छल जागरण भी ।

१६

आ, सोने से पहले गाले!

जग में प्रात पुनः आएगा,
सोया जाग नहीं पाएगा,
आँख मूँद लेने से पहले, आ, जो कुछ कहना कह डालें!
आ, सोने से पहले गालें!

दिन में पथ पर था उजियाला,
फैली थी किरणों की माला,
अब अँधियाला देश मिला है, आ, रागों का दीप जलाले!
आ, सोने से पहले गालें!

काल-प्रहारों से उच्छृंखल
जीवन की लड़ियाँ विशृंखल,
इन्हें जोड़ने को, आ, अपने गीतों की हम गाँठ लगाले!
आ, सोने से पहले गालें!

—

२०

तम ने जीवन - तरु को घेरा !

टूट गिरीं इच्छा की कलियाँ,
अभिलाषा की कच्ची फलियाँ,
शेष रहा जुगुनूँ की लौ में आशामय उजियाला मेरा !
तम ने जीवन - तरु को घेरा !

पल्लव - मरमर गान कहाँ अब !
कोकिल - पंचम तान कहाँ अब !
कौन गया निश्चय से सोने, देखेगा फिर जाग सवेरा !
तम ने जीवन - तरु को घेरा !

स्वप्नों ही ने मुझको लूटा,
स्वप्नों का, हा, मोह न छूटा,
मेरे नीड़ - नयन में आओ, करलो, प्रेयसि, रैन - बसेरा !
तम ने जीवन - तरु को घेरा !

२१

दीप अभी जलने दे, भाई!

निद्रा की मादक मदिरा पी,
सुख - स्वप्नों मे बहलाकर जी
रात्रि - गोद में जग सोया है, पलक नहीं मेरी लग पाई!
दीप अभी जलने दे, भाई!

आज पड़ा हूँ मैं बनकर शव,
जीवन में जड़ता का अनुभव,
किसी प्रतीक्षा की स्मृति से ये पागल आँखे हैं पथराई!
दीप अभी जलने दे, भाई!

दीपशिखा में झिलमिल-झिलमिल
प्रति पल धीमे-धीमे हिल - हिल
जीवन का आभास दिलाती कुछ मेरी - तेरी परछाईं!
दीप अभी जलने दे, भाई!

२२

आ, तेरे उर में छिप जाऊँ !

मिल न सका स्वर जग-क्रंदन का
और मधुर मेरे गायन का,
आ तेरे उर की धड़कन से अपनी धड़कन आज मिलाऊँ !
आ, तेरे उर में छिप जाऊँ !

जिसे सुनाने को अति आतुर-
आकुल युग - युग से मेरा उर,
एक गीत अपने सपनों का, आ, तेरी पलकों पर गाऊँ !
आ, तेरे उर में छिप जाऊँ !

फिर न पड़े जगती में गाना,
फिर न पड़े जगती में जाना,
एक बार तेरी गोदी में सोकर फिर मैं जाग न पाऊँ !
आ, तेरे उर मे छिप जाऊँ !

२३

आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!

स्वप्न-लोक से हम निर्वासित,
कब से गृह-सुख को लालायित,
आओ, निद्रा - पथ से छिपकर हम अपने घर जाएँ!
आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!

मौन रहो, मुख से मत बोलो,
अपना यह मधुकोष न खोलो,
भय है कहीं हृदय के मेरे घाव न ये भर जाएँ!
आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!

आँसू भी न बहाएँगे हम,
जग से क्या ले जाएँगे हम?—
यदि निधनों के अंतिम धन ये जल - कण भी झर जाएँ!
आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!

२४

हो मधुर सपना तुम्हारा !

पलक पर यह स्नेह - चुम्बन
पोंछ दे सब अश्रु के कण,
नींद की मदिरा पिलाकर दे भुला जग - क्रूर - कारा !
हो मधुर सपना तुम्हारा !

दे दिखाई विश्व ऐसा,
है रचा विधि ने न जैसा,
दूर जिससे हो गया है बहिर् - अंतर्द्वंद्व सारा !
हो मधुर सपना तुम्हारा !

कंठ में हो गान ऐसा,
था सुना जग ने न जैसा
और स्वर से स्वर मिलाकर गा रहा हो विश्व सारा !
हो मधुर सपना तुम्हारा !

२५

कोई पार नदी के गाता!

भग निशा की नीरवता कर,
इस देहाती गाने का स्वर,
ककड़ी के खेतों से उठकर, आता जमुना पर लहराता!
कोई पार नदी के गाता!

होंगे भाई-बंधु निकट ही,
कभी सोचते होंगे यह भी,
इस तट पर भी बैठा कोई उसकी तानों से सुख पाता!
कोई पार नदी के गाता!

आज न जाने क्यों होता मन
सुनकर यह एकाकी गायन,
सदा इसे मैं सुनता रहता, सदा इसे यह गाता जाता!
कोई पार नदी के गाता!

२६

आओ, बैठें तरु के नीचे !

कहने को गाथा जीवन की,
जीवन के उत्थान-पतन की,
अपना मुँह खोलें, जब सारा जग है अपनी आँखें मीचे !'
आओ, बैठें तरु के नीचे !

अर्घ्य बने थे ये देवल के,
अंक चढ़े थे ये अंचल के,
आओ, भूल इसे, आँसू से अब निर्जीव जड़ों को सींचें !'
आओ, बैठें तरु के नीचे !

भाव-भरा उर शब्द न आते,
पहुँच न इन तक आँसू पाते,
आओ, तृण से शुष्क धरा पर अर्थ रहित रेखाएँ खींचे !
आओ, बैठें तरु के नीचे !

२७

साथी, घर-घर आज दिवाली!

फैल गई दीपों की माला,
मंदिर-मंदिर में उजियाला,
किंतु हमारे घर का, देखो, दर काला, दीवारें काली!
साथी, घर-घर आज दिवाली!

हास उमंग हृदय में भर-भर
घूम रहा गृह-गृह, पथ-पथ पर,
किंतु हमारे घर के अंदर डरा हुआ सूनापन खाली!
साथी, घर-घर आज दिवाली!

आँख हमारी नभ-मंडल पर,
वही हमारा नीलम का घर,
दीप-मालिका मना रही है रात हमारी तारोंवाली!
साथी, घर-घर आज दिवाली!

२८

आ, गिन डालें नभ के तारे !

मिलकर हमको खींच रहे जो,
श्रम-सीकर से सींच रहे जो,
कण-कण उस पथ का पढ़ने को जिसपर हैं पद बद्ध हमारे !
आ, गिन डालें नभ के तारे !

उठ अपने बल पर घमंड कर,
देख एक मानव के ऊपर
आवश्यक शासन करने को कितने चिर चैतन्य सितारे !
आ, गिन डालें नभ के तारे !

देख मनुज की छाती विस्तृत,
दग्ध जिसे करने को संचित
किए गए हैं अंबर भर में इतने चिर ज्वलत अंगारे !
आ, गिन डालें नभ के तारे !

२६

मेरा गगन से सलाप !

दीप जब दुनिया बुझाती,
नींद आँखों में बुलाती,
तारकों में जा ठहरती दृष्टि मेरी आप !
मेरा गगन से सलाप !

बोल अपनी मूक भाषा
कुछ मुझे देते दिलासा,
किंतु जब कुछ पूछता मैं, देखते चुपचाप !
मेरा गगन से सलाप !

एक ही होता इशारा,
टूटता रह-रह सितारा,
एक उत्तर सर्व प्रश्नों का ! महा संताप !
मेरा गगन से संलाप !

३०

कहते हैं, तारे गाते हैं!

सन्नाटा वसुधा पर छाया,
नभ में हमने कान लगाया,
फिर भी अगणित कंठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं।
कहते हैं, तारे गाते हैं!

स्वर्ग सुना करता यह गाना,
पृथ्वी ने तो बस यह जाना,
अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं।
कहते हैं, तारे गाते हैं!

ऊपर देव, तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन-रोदन,
राग सदा ऊपर को उठता, आँसू नीचे झर जाते हैं!
कहते हैं, तारे गाते हैं!

३१

साथी, देख उल्कापात !

टूटता तारा न दुर्बल,
चमकती चपला न चंचल,
गगन से कोई उतरती ज्योति यह नवजात !
साथी, देख उल्कापात !

बीच ही में क्षीण होकर,
अंतरिक्ष - विलीन होकर
कर गई कुछ और पहले से अँधेरी रात।
साथी, देख उल्कापात !

मैं बहुत विपरीत इसके;
तम-प्रपूरित गीत जिसके,
हो उठेगी दीप्ति उसके मौन के पश्चात !
साथी; देख उल्कापात !

३२

देखो, टूट रहा है तारा!

नभ के सीमाहीन पटल पर
एक चमकती रेखा चलकर
लुप्त शून्य में होती—बुझता एक निशा का दीप दुलारा!
देखो, टूट रहा है तारा!

हुआ न उडगण में क्रंदन भी,
गिरे न आँसू के दो कण भी;
किसके उर में आह उठेगी होगा जब लघु अंत हमारा!
देखो, टूट रहा है तारा!

यह परवशता या निर्ममता?
निर्बलता या बल की क्षमता?
मिटता एक, देखता रहता दूर खड़ा तारक-दल सारा!
देखो, टूट रहा है तारा!

३३

मुझसे चाँद कहा करता है—

'चोट कड़ी है काल प्रबल की,
उसकी मुसकानों से हल्की,
राजमहल कितने सपनों का पल में नित्य ढहा करता है!'
मुझसे चाँद कहा करता है—

'तू तो है लघु मानव केवल,
पृथ्वी-तल का वासी निर्बल,
तारों का असमर्थ अश्रु भी नभ से नित्य बहा करता है!'
मुझसे चाँद कहा करता है—

'तू अपने दुख में चिल्लाता,
आँखों देखी बात बताता,
तेरे दुख से कहीं कठिन दुख यह जग मौन सहा करता है!'
मुझसे चाँद कहा करता है—

———

३४

विश्व सारा सो रहा है !

हैं विचरते स्वप्न सुंदर,
किंतु इनका संग तजकर,
अगम नभ की शून्यता का कौन साथी हो रहा है !
विश्व सारा सो रहा है !

अवनि पर सर, सरित, निर्झर,
किंतु इनसे दूर जाकर,
कौन अपने घाव अंबर की नदी मे धो रहा है !
विश्व सारा सो रहा है !

न्याय - न्यायाधीश भूपर
पास, पर, इनके न जाकर,
कौन तारों की सभा में दुःख अपना रो रहा है ?
विश्व सारा सो रहा है !

३५

कोई रोता दूर कहीं पर !

इन काली घड़ियों के अंदर,
यत्न बचाने के निष्फल कर,
काल प्रबल ने किसके जीवन का प्यारा अवलंब लिया हर ?
कोई रोता दूर कहीं पर !

ऐसी ही थी रात अँधेरी,
जब सुख की, सुखमा की ढेरी
मेरी लूट नियति ने ली थी, करके मेरा तन-मन जर्जर !
कोई रोता दूर कहीं पर !

मित्र - पड़ोसी क्रंदन सुनकर,
आकर अपने घर से सत्वर.
क्या न इसे समझाते होंगे चार दुखी का जीवन कहकर ?
कोई रोता दूर कहीं पर !

३६

साथी, सो न, कर कुछ बात !

बोलते उडगण परस्पर,
तरु दलों, में मद 'मरमर',
बात करतीं सरि-लहरियाँ कूल से जल-स्नात !
साथी, सो न, कर कुछ बात !

बात करते सो गया तू,
स्वप्न में फिर खो गया तू,
रह गया मैं और आधी बात, आधी रात !
साथी, सो न, कर कुछ बात !

पूर्ण करदे वह कहानी,
जो शुरू की थी सुनानी,
आदि जिसका हर निशा में, अंत चिर अज्ञात !
साथी, सो न, कर कुछ बात !

३७

तूने क्या सपना देखा है?

पलक-रोम पर बूँदें सुख की,
हँसती-सी मुद्रा कुछ मुख की,
सोते में क्या तूने अपना बिगड़ा भाग्य बना देखा है?
तूने क्या सपना देखा है?

नभ में कर क्यों फैलाता है?
किसको भुज में भर लाता है?
प्रथम बार सपने मे तूने क्या कोई अपना देखा है?
तूने क्या सपना देखा है?

मृगजल से ही ताप मिटाले,
सपनों मे ही कुछ रस पाले,
मैंने तो तन-मन का सपनों में भी बस तपना देखा है!
तूने क्या सपना देखा है?

३८

आज घिरे हैं बादल, साथी !

भरा हृदय नभ विगलित होकर
आज बिखर जाएगा भूपर,
चार नयन भी साथ गगन के आज पड़ेंगे ढल-ढल, साथी !
आज घिरे हैं बादल, साथी !

आँसू का बल हमें कभी था,
आँचल गीला किया जभी था,
जग - जीवन की सब सीमाएँ ढहीं-बहीं थीं गल-गल, साथी !
आज घिरे हैं बादल, साथी !

अब आँसू उर - ज्वाल बुझाते
तो भी हम कुछ सुख पा जाते !
इन जल की बूँदों से उर के घाव उठेंगे जल-जल, साथी !
आज घिरे हैं बादल, साथी !

३६

देख, रात है कितनी काली!

आज सितारे भी हैं सोए,
बादल की चादर में खोए,
एक बार भी नहीं उठाती घूँघट घन-अवगुंठन वाली!
देख, रात है कितनी काली!

आज बुझी है अंतर्ज्वाला,
जिससे हमने खोज निकाला
था पथ अपना अधिक तिमिर में और चली थी चाल निराली!
देख, रात है कितनी काली!

क्यों उन्मत्त समीरण आता,
मानव-कर का दीप बुझाता,
क्यों जुगुनूँ जल-जल करता है तरु के नीड़ों की रखवाली?
देख, रात है कितनी काली!

४०

यह पपीहे की रटन है!

बादलों की घिर घटाएँ
भूमि की लेतीं बलाएँ,
खोल दिल देतीं दुआएँ—देख किस उर में जलन है!
यह पपीहे की रटन है!

जो बहादे, नीर आया,
आग का फिर तीर आया,
वज्र भी बेपीर आया—कब रुका इसका वचन है!
यह पपीहे की रटन है!

यह न पानी से बुझेगी,
यह न पत्थर से दबेगी,
यह न शोलों से डरेगी यह वियोगी की लगन है!
यह पपीहे की रटन है!

—

४१

है पावस की रात अँधेरी!

विद्युत की है द्युति अंबर में,
जुगनूँ की है ज्योति अधर में,
नभ-मंडल की सकल दिशाएँ तम की चादर ने हैं घेरी!
है पावस की रात अँधेरी!

मैंने अपने हास चपल से
होड़ कभी ली थी बादल से!
किंतु गगन का गर्जन सुनकर आज धड़कती छाती मेरी!
है पावस की रात अँधेरी!

है सहसा जिह्वा पर आई,
'घन-घमंड......' वाली चौपाई,
जहाँ देव भी काँप उठे थे, क्यों लज्जित मानवता मेरी!
है पावस की रात अँधेरी!

४२

आज मुझसे बोल, बादल !

तम - भरा तू, तम - भरा मैं,
गम - भरा तू, गम - भरा मैं,
आज तू अपने हृदय से हृदय मेरा तोल, बादल !
आज मुझसे बोल, बादल !

आग तुझमें, आग मुझमें,
राग तुझमें, राग मुझमें,
आ मिलें हम आज अपने द्वार उर के खोल, बादल !
आज मुझसे बोल, बादल !

भेद यह मत देख दो पल—
क्षार - जल मैं, तू मधुर - जल,
व्यर्थ मेरे अश्रु, तेरी बूँद है अनमोल, बादल !
आज मुझसे बोल, बादल !

४३

आज रोती रात, साथी!

घन तिमिर में मुख छिपाकर
है गिराती अश्रु झर-झर,
क्या लगी कोई हृदय में तारकों की बात, साथी!
आज रोती रात, साथी!

जब तड़ित-क्रंदन श्रवणकर
काँपती है धरणि थरथर,
सोच, बादल के हृदय ने क्या सहे आघात, साथी!
आज रोती रात, साथी!

एक उर में आह उठती,
निखिल सृष्टि कराह उठती;
रात रोती, भीग उठता भूमि का पट-गात, साथी!
आज रोती रात, साथी!

—

४४

रात - रात भर श्वान भूकते।

पार नदी के जब ध्वनि जाती,
लौट उधर से प्रतिध्वनि आती;
समझ खड़े समबल प्रतिद्वंदी दे-दे अपने प्राण भूकते।
रात - रात भर श्वान भूकते।

इस रव से निशि कितनी विह्वल,
बतला सकता हूँ मैं केवल,
इसी तरह मेरे उर में भी असंतुष्ट अरमान भूकते!
रात - रात भर श्वान भूकते।

जब दिन होता, ये चुप होते,
कहीं अँधेरे में छिप सोते,
पर दिन - रात हृदय के मेरे ये निर्दय मेहमान भूकते
रात - रात भर श्वान भूकते।

४५

रो, अशकुन बतलानेवाली !

'आउ आउ' कर किसे बुलाती ?
तुझको किसकी याद सताती ?
मेरे किन दुर्भाग्य क्षणों से प्यार तुझे, ओ तम-सी काली ?
रो, अशकुन बतलानेवाली !

देख किसी को अश्रु बहाते,
नेत्र सदा साथी बन जाते,
पर तेरी यह चीखें उर में कितना भय उपजानेवाली !
रो, अशकुन बतलानेवाली !

सत्य मिटा, सपना भी टूटा,
संगिन छूटी, संगी छूटा,
कौन शेष रह गई आपदा जो तू मुझपर लानेवाली ?
रो, अशकुन बतलानेवाली !

४६

साथी, नया वर्ष आया है!

वर्ष पुराना, ले, अब जाता,
कुछ प्रसन्न-सा, कुछ पछताता;
दे जी भर आशीष, बहुत ही इससे तूने दुख पाया है!
साथी, नया वर्ष आया है!

उठ इसका स्वागत करने को,
स्नेह बाहुओं में भरने को,
नए साल के लिए, देख, यह नई वेदनाएँ लाया है!
साथी, नया वर्ष आया है!

उठ, ओ पीड़ा के मतवाले!
ले ये तीक्ष्ण-तिक्त-कटु प्याले,
ऐसे ही प्यालों का गुण तो तूने जीवन भर गाया है!
साथी, नया वर्ष आया है!

४७

आओ, नूतन वर्ष मनालें!

गृह-विहीन बन - वन प्रवास का,
तप्त आँसुओं, तप्त श्वास का
एक और युग बीत रहा है, आओ इसपर हर्ष मनालें!
आओ, नूतन वर्ष मनालें!

उठो, मिटा दें आशाओं को,
दबी - छिपी अभिलाषाओं को,
आओ, निर्ममता से उर में यह अंतिम संघर्ष मनालें!
आओ, नूतन वर्ष मनालें!

हुई बहुत दिन खेल - मिचौनी,
बात यही थी निश्चित होनी,
आओ, सदा दुखी रहने का जीवन में आदर्श बनालें!
आओ, नूतन वर्ष मनालें!

—

४८

रात आधी हो गई है!

जागता मैं आँख फाड़े,
हाय, सुधियों के सहारे,
जब कि दुनिया स्वप्न के जादू-भवन में खो गई है!'
रात आधी हो गई है!

सुन रहा हूँ, शांति इतनी,
है टपकती बूँद जितनी
ओस की जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गई है!'
रात आधी हो गई है!

दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से ज़रा-सा
चाँदनी पिछले पहर की पास मे जो सो गई है!'
रात आधी हो गई है!

४९

विश्व मनाएगा कल होली !

घूमेगा जग राह-राह में
आलिंगन की मधुर चाह में,
स्नेह - सरसता से घट भरकर, ले अनुराग-राग की झोली !
विश्व मनाएगा कल होली !

उर से कुछ उच्छ्वास उठेंगे,
चिर-भूखे भुज-पाश उठेंगे,
कंठस्थल में रुक जाएगी मेरे करुण प्रणय की बोली !
विश्व मनाएगा कल होली !

आँसू की दो धार बहेगी,
दो - दो मुट्ठी राख उडेगी;
और अधिक चमकीला होगा जग का रंग, जगत की रोली !
विश्व मनाएगा कल होली !

५०

खेल चुके हम फाग समय से !

फैलाकर निःसीम भुजाएँ,
अंक भरीं हमने विपदाएँ,
होली ही हम रहे मनाते प्रति दिन अपने यौवन - वय से !
खेल चुके हम फाग समय से !

मन के दाग अमिट बतलाते,
हम थे कैसा रंग बहाते;
मलते थे रोली मस्तक पर क्षार उठाकर दग्ध हृदय से !
खेल चुके हम फाग समय से !

रंग छुड़ाना, चंग बजाना,
रोली मलना, होली गाना—
आज हमें यह सब लगते हैं केवल बच्चों के अभिनय से !
खेल चुके हम फाग समय से !

५१

साथी, कर न आज दुराव !

खींच ऊपर को भ्रुओं को
रोक मत अब आँसुओं को,
सह सकेगी भार कितना यह नयन की नाव !
साथी, कर न आज दुराव !

व्यक्त कर दे अश्रु - कण से,
आह से, अस्फुट वचन से,
प्राण - तन - मन को दबाए जो हृदय के भाव !
साथी, कर न आज दुराव !

रो रही बुलबुल विकल हो
इस निशा में धैर्य - धन खो,
वह कहीं समझे न उसके ही हृदय में घाव !
साथी, कर न आज दुराव !

५२

हम कब अपनी बात छिपाते !

हम अपना जीवन अंकित कर
फेंक चुके हैं राज - मार्ग पर,
जिसके जी में आए पढ़ ले थमकर पल भर आते - जाते !'
हम कब अपनी बात छिपाते ?

हम सब कुछ करके भी मानव,
हमीं देवता, हम ही दानव,
हमीं स्वर्ग की, हमीं नरक की क्षण भर में सीमा छू आते !'
हम कब अपनी बात छिपाते ?

मानवता के विस्तृत उर हम,
मानवता के स्वच्छ मुकुर हम,
मानव क्यों अपनी मानवता बिंबित हममें देख लजाते !'
हम कब अपनी बात छिपाते ?

५३

हम आँसू की धार बहाते !

मानव के दुख का सागर-जल
हम पी लेते बनकर बादल,
रोकर बरसाते हैं फिर भी हम खारे को मधुर बनाते !
हम आँसू की धार बहाते !

उर मथकर कंठों तक आता,
कंठ रुँधा पाकर फिर जाता,
कितने ऐसे विष का दर्शन, हाय, नहीं मानव कर पाते !
हम आँसू की धार बहाते !

मिट जाते हम करके वितरण
अपना अमृत सरीखा सब धन !
फिर भी ऐसे बहुत पड़े जो मेरा-तेरा भाग्य सिहाते !
हम आँसू की धार बहाते !

५४

क्यों रोता है, जड़ तकियों पर !

जिनका उर था स्नेह-विनिर्मित,
भाव - सरसता से अभिसिंचित,
जब न पसीजे इनसे वे भी, आज पसीजेंगे क्या पत्थर !
क्यों रोता है जड़ तकियों पर !

इनमें मानव का जीवन है,
जीवन का नीरव क्रंदन है,
नष्ट न कर तू इन बूँदों को मरुथल के ऊपर बरसाकर !
क्यों रोता है जड़ तकियों पर !

रो तू अक्षर - अक्षर में ही,
रो तू गीतों के स्वर मे ही,
शात किसी दुखिया का मन हो जिनको सूनेपन में गाकर !
क्यों रोता है जड़ तकियों पर !

५५

मैंने दुर्दिन में गाया है।

दुर्दिन जिसके आगे रोता,
बंदी - सा नत - मस्तक होता,
एक न एक समय दुनिया का एक-एक प्राणी आया है।
मैंने दुर्दिन में गाया है।

जीवन का क्या भेद बताऊँ?
जगती का क्या मर्म जताऊँ?—
किसी तरह रो-गाकर मैंने अपने मन को बहलाया है।
मैंने दुर्दिन में गाया है।

साथी, हाथ पकड़ मत मेरा,
कोई और सहारा तेरा,
यही बहुत, दुख-दुर्बल तूने मुझको अपने-सा पाया है।
मैंने दुर्दिन में गाया है।

५६

साथी, कवि नयनों का पानी—

चढ़ जाए मंदिर - प्रतिमा पर,
या दे मस्जिद की गागर भर,
या धोए वह रक्त सना है जिससे जग का आहत प्राणी!
साथी, कवि नयनों का पानी—

लिखे कथाएँ राज-राज की,
या परिवर्तित जन - समाज की,
या मानवता के विषाद की लिखे अनादि-अनंत कहानी!
साथी, कवि नयनों का पानी—

'कलकल' करे सरित - निर्झर में,
या मुखरित हो सिंधु-लहर में,
युग वाणी बोले या बोले वह, जो है युग-युग की वाणी!
साथी, कवि नयनों का पानी—

५७

जग बदलेगा किंतु न जीवन!

क्या न करेंगे उर में क्रंदन
मरण-जन्म के प्रश्न चिरंतन,
हल कर लेंगे जब रोटी का मसला जगती के नेतागण?
जग बदलेगा, किंतु न जीवन!

प्रणय स्वप्न की चंचलता पर
जो रोएँगे सिर धुन-धुनकर,
नेताओं के तर्क वचन क्या उनको दे देंगे आश्वासन?
जग बदलेगा, किंतु न जीवन!

मानव-भाग्य-पटल पर अंकित
न्याय नियति का जो चिर निश्चित,
धो पाएँगे उसे तनिक भी नेताओं के आँसू के कण?
जग बदलेगा, किंतु न जीवन!

५८

क्षण भर को क्यों प्यार किया था ?

अर्द्ध रात्रि में सहसा उठकर
पलक संपुटों में मदिरा भर
तुम ने क्यों मेरे चरणों में अपना तन-मन वार दिया था ?
क्षण भर को क्यों प्यार किया था ?

'यह अधिकार कहाँ से लाया।'
और न कुछ मैं कहने पाया—
मेरे अधरों पर निज अधरों का तुमने रख भार दिया था !
क्षण भर को क्यों प्यार किया था ?

वह क्षण अमर हुआ जीवन में,
आज राग जो उठता मन में—
यह प्रतिध्वनि उसकी जो उर में तुमने भर उद्‌गार दिया था !
क्षण भर को क्यों प्यार किया था ?

—

५६

'आज सुखी मैं कितनी, प्यारे !'

चिर अतीत में 'आज' समाया,
उस दिन का सब साज समाया,
किंतु प्रतिक्षण गूँज रहे हैं नभ में वे कुछ शब्द तुम्हारे !
'आज सुखी मैं कितनी, प्यारे !'

लहरों में मचला यौवन था,
तुम थीं, मैं था, जग निर्जन था,
सागर में हम कूद पड़े थे भूल जगत के कूल किनारे !
'आज सुखी मैं कितनी, प्यारे !'

साँसों में अटका जीवन है,
जीवन में एकाकीपन है,
'सागर' की बस याद दिलाते नयनों में दो जल-कण खारे !
'आज सुखी मैं कितनी, प्यारे !'

६०

सोच सुखी मेरी छाती है—

दूर कहाँ मुझसे जाएगी,
कैसे मुझको बिसराएगी?
मेरे ही उर की मदिरा से तो, प्रेयसि, तू मदमाती है।
सोच सुखी मेरी छाती है—

मैंने कैसे तुझे गँवाया,
जब तुझको अपने में पाया?
पास रहे तू कहीं किसी के, सरक्षित मेरी थाती है?
सोच सुखी मेरी छाती है—

तू जिसको कर प्यार, वही मैं।
अपने में ही आज नहीं मैं।
किसी मूर्ति पर पुष्प चढ़ा तू पूजा मेरी हो जाती है।
सोच सुखी मेरी छाती है—

६१

जग-का मेरा प्यार नही था !

तूने था जिसको लौटाया,
क्या उसको मैंने फिर पाया ?
हृदय गया था अर्पित होने, साधारण उपहार नहीं था !
जग-का मेरा प्यार नहीं था !

सीमित जग के सीमित क्षण मे
सीमाहीन तृषा थी मन में,
तुझमें अपने लय चाहा था, ध्येय प्रणय-अभिसार नही था !
जग-का मेरा प्यार नहीं था !

स्वर्ग न जिसको छू पाया था,
तेरे चरणों में आया था,
तूने इसका मूल्य न समझा, जीवन था, खिलवार नही था !
जग-का मेरा प्यार नहीं था !

६२

देवता उसने कहा था !

रख दिए थे पुष्प लाकर
नत - नयन मेरे चरण पर !
देर तक अचरज - भरा मैं देखता खुद को रहा था !
देवता उसने कहा था !

गोद मंदिर बन गई थी,
दे नए सपने गई थी,
किंतु जब आँखे खुलीं तब कुछ न था, मंदिर जहाँ था !
देवता उसने कहा था !

प्यार - पूजा थी उसीकी,
है उपेक्षा भी उसीकी;
क्या कठिन सहना घृणा का, भार पूजा का सहा था !
देवता उसने कहा था !

६३

मैंने भी जीवन देखा है।

अखिल विश्व था आलिंगन में,
था समस्त जीवन चुंबन में,
युग कर पाए माप न जिसकी मैंने ऐसा क्षण देखा है!
मैंने भी जीवन देखा है।

सिंधु जहाँ था, मरु सोता है!
अचरज क्या मुझको होता है?
अतुल प्यार का अतुल घृणा मे मैंने परिवर्तन देखा है!
मैंने भी जीवन देखा है।

प्रिय सब कुछ खोकर जीता हूँ,
चिर अभाव का मधु पीता हूँ,
यौवन-रँगरलियों से प्यारा मैंने सूनापन देखा है!
मैंने भी जीवन देखा है।

६४

'क्या मैं जीवन से भागा था ?

स्वर्ण शृंखला प्रेम-पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी,
क्या उससे लिपटा रहता जो कच्चे रेशम का तागा था !
क्या मैं जीवन से भागा था ?

मेरा सारा कोष नहीं था,
अंशों से संतोष नहीं था,
अपनाने की कुचली साधों में मैंने तुमको त्यागा था !'
क्या मैं जीवन से भागा था ?

बूँद उसे तुमने दिखलाया,
युग-युग की तृष्णा जो लाया,
जिसने चिर अथाह मधु-मज्जित जीवन का प्रति क्षण माँगा था !'
क्या मैं जीवन से भागा था ?

६५

निर्ममता भी है जीवन में!

हो वासती अनिल प्रवाहित
करता जिनको दिन-दिन विकसित,
उन्हीं दलों को शिशिर-समीरण तोड़ गिराता है दो क्षण में!'
निर्ममता भी है जीवन में!

जिसकी कञ्चन की काया थी,
जिसमें सब सुख की छाया थी,
उसे मिला देना पड़ता है पल भर में मिट्टी के कण में!'
निर्ममता भी है जीवन में!

जगती ,मे है प्रणय उच्चतर,
पर कुछ है उसके भी ऊपर,
पूछ उसीसे आज नहीं तू क्यों मेरे उर के आँगन मे!'
निर्ममता भी है जीवन में?

—

६६

मैंने खेल किया जीवन से!

सत्य भवन में मेरे आया,
पर मैं उसको देख न पाया,
दूर न कर पाया मैं, साथी, सपनों का उन्माद नयन से!
मैंने खेल किया जीवन से!

मिलता था बेमोल मुझे सुख,
पर मैंने उससे फेरा मुख,
मैं ख़रीद बैठा पीड़ा को यौवन के चिर संचित धन से!
मैंने खेल किया जीवन से!

थे बैठे भगवान हृदय में,
देर हुई मुझको निर्णय में,
उन्हें देवता समझा जो थे कुछ भी अधिक नहीं पाहन से!
मैंने ख़ेल किया जीवन से!

६७

था तुम्हे मैंने रुलाया !

हाय ! मृदु इच्छा तुम्हारी !
हा ! उपेक्षा कटु हमारी !
'था बहुत माँगा न तुमने किंतु वह भी दे न पाया !
था तुम्हे मैंने रुलाया !

स्नेह का वह कण तरल था,
मधु न था, न सुधा-गरल था,
'एक क्षण को भी, सरलते, क्यों समझ तुमको न पाया !
था तुम्हें मैंने रुलाया !

बूँद कल की आज सागर,
सोचता हूँ बैठ तट पर—
क्यों अभी तक डूब इसमें कर न अपना अंत पाया ।
था तुम्हे मैंने रुलाया !

६८

ऐसे मैं मन बहलाता हूँ!

सोचा करता बैठ अकेले
गत जीवन के सुख-दुख झेले,
दशनकारी स्मृतियों से मैं उर के छाले सहलाता हूँ!
ऐसे मैं मन बहलाता हूँ!

नहीं खोजने जाता मरहम,
होकर अपने प्रति अति निर्मम,
उर के घावों को आँसू के खारे जल से नहलाता हूँ!
ऐसे मैं मन बहलाता हूँ!

आह निकल मुख से जाती है,
मानव की ही तो छाती है,
लाज नहीं मुझको देवों मे यदि मैं दुर्बल कहलाता हूँ!
ऐसे मैं मन बहलाता हूँ!

६६

अब वे मेरे गान कहाँ हैं!

टूट गई मरकत की प्याली,
लुप्त हुई मदिरा की लाली,
मेरा व्याकुल मन बहलानेवाले अब सामान कहाँ है!
अब वे मेरे गान कहाँ हैं!

जगती के नीरस मरुथल पर
हँसता था मैं जिनके बल पर,
चिर वसंत - सेवित स्वप्नों के मेरे वे उद्यान कहाँ हैं!
अब वे मेरे गान कहाँ है!

किसपर अपना प्यार चढ़ाऊँ?
यौवन का उद्‌गार चढ़ाऊँ?
मेरी पूजा को सह लेनेवाले वे पाषाण कहाँ है!
अब वे मेरे गान कहाँ हैं!

७०

बीते दिन कब आनेवाले !

मेरी वाणी का मधुमय स्वर
विश्व सुनेगा कान लगाकर,
दूर गए पर मेरे उर की धड़कन को सुनपानेवाले !
बीते दिन कब आनेवाले !

विश्व करेगा मेरा आदर
हाथ बढ़ाकर, शीश नवाकर,
पर न खुलेंगे नेत्र प्रतीक्षा मे जो रहते थे मतवाले !
बीते दिन कब आनेवाले !

मुझमें है देवत्व जहाँ पर,
झुक जाएगा लोक वहाँपर,
पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता को अब दुलरानेवाले !
बीते दिन कब आनेवाले !

७१

आज मुझसे दूर दुनिया !

भावनाओं से विनिर्मित,
कल्पनाओं से सुसज्जित,
कर चुकी मेरे हृदय का स्वप्न चकनाचूर दुनिया !
आज मुझसे दूर दुनिया !

'बात पिछली भूल जाओ,
दूसरी नगरी बसाओ'—
प्रेमियों के प्रति रही है, हाय, कितनी क्रूर दुनिया !
आज मुझसे दूर दुनिया !

वह समझ मुझको न पाती,
और मेरा दिल जलाती,
है चिता की राख कर में माँगती सिंदूर दुनिया !
आज मुझसे दूर दुनिया !

७२

मैं जग से कुछ सीख न पाया।

जग ने थोड़ा-थोड़ा चाहा,
थोड़े में ही काम निबाहा,
लेकिन अपनी इच्छाओं को मैंने सीमाहीन बनाया।
मैं जग से कुछ सीख न पाया।

जग ने जो दिन-बीच कमाया,
उसे निशा में किया सवाया,
मैंने जो दिन को जोड़ा था, उसका मैंने शाम गँवाया।
मैं जग से कुछ सीख न पाया।

जग ने जो प्रतिमा ठुकराई,
झुककर उसके आगे आई,
फिर-फिर झुका उसी वेदी पर जहाँ गया फिर-फिर ठुकराया।
मैं जग से कुछ सीख न पाया।

७३

श्यामा तरु पर बोलने लगी !

है अभी पहर भर शेष रात,
है पड़ी भूमि हो शिथिल-गात,
यह कौन ओस-जल में सहसा मिश्री के कण घोलने लगी ?
श्यामा तरु पर बोलने लगी !

दिग्वधुओं का मुख तमाच्छन्न
अब अस्फुट आभा से प्रसन्न,
यह कौन उषा का अवगुंठन गा - गाकरके खोलने लगी ?
श्यामा तरु पर बोलने लगी !

अधरों के नीचे लेजाकर
इसने रक्खा क्या पेय प्रखर,
जिसके छूते ही सकल प्रकृति हो सजग-चपल डोलने लगी ?
श्यामा तरु पर बोलने लगी !

७४

यह अरुणचूड़ का तरुण राग!

सुनकर इसकी हुकार वीर
हो उठा सजग-अस्थिर समीर,
उड़ चले तिमिर का वक्ष चीर चिड़ियों के पहरेदार काग!
यह अरुणचूड़ का तरुण राग!

जग पड़ा खगों का कुल महान,
छिड़ गया समिलित मधुर गान,
पौ फटी, हुआ स्वर्णिम विहान, तम चला भाग, तम गया भाग!
यह अरुणचूड़ का तरुण राग!

अब जीवन-जागृति-ज्योति दान-
परिपूर्ण भूमितल, आसमान,
मानो कण-कण की एक तान, सोना न पडेगा पुनः जाग!
यह अरुणचूड़ का तरुण राग!

७५

तारक - दल छिपता जाता है।

कलियाँ खिलतीं, फूल बिखरते,
मिल सुख-दुख के आँसू झरते,
जीवन और मरण दोनो का राग विहगम-दल गाता है ॥
तारक - दल छिपता जाता है।

इसे कहूँ मैं हास पवन का,
या समझूँ उच्छ्वास पवन का ?
अवनि और अंबर दोनों से प्रात-समीरण का नाता है।
तारक - दल छिपता जाता है।

रवि ने अपना हाथ बढ़ाकर
नभ - दीपों का तेज लिया हर,
जग में उजियाला होता है, स्वप्न-लोक में तम छाता है।
तारक - दल छिपता जाता है।

७६

शुरू हुआ उजियाला होना!

हटता जाता है नभ से तम,
संख्या तारों की होती कम,
उषा झाँकती उठा क्षितिज से बादल की चादर का कोना!
शुरू हुआ उजियाला होना!

ओस - कणों से निर्मल - निर्मल,
उज्ज्वल-उज्ज्वल, शीतल-शीतल
शुरू किया प्रातः समीर ने तरु-पल्लव-तृण का मुँह धोना!
शुरू हुआ उजियाला होना!

किसी बसे द्रुम की डाली पर
सद्यः जाग्रत चिड़ियों का स्वर,
किसी सुखी घर से सुन पड़ता है नन्हें बच्चों का रोना!
शुरू हुआ उजियाला होना!

७७

आ रही रवि की सवारी !

नव - किरण का रथ सजा है,
कलि-कुसुम से पथ सजा है,
बादलों - से अनुचरों ने स्वर्ण की पोशाक धारी !
आ रही रवि की सवारी !

विहग बंदी और चारण,
गा रहे हैं कीर्ति - गायन,
छोड़कर मैदान भागी तारकों की फौज सारी !
आ रही रवि की सवारी !

चाहता, उछलूँ विजय कह,
पर ठिठकता देखकर यह—
रात का राजा खड़ा है राह में बनकर भिखारी !
आ रही रवि की सवारी !

९८

अब घन-गर्जन-गान कहाँ है !

कहती है ऊषा की पहली
किरण लिए मुसकान सुनहली—
नहीं दमकती दामिनि का हा, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है !
अब घन-गर्जन-गान कहाँ है !

कहता एक बूँद आँसू झर
पलक - पाँखुरी से पल्लव पर—
नहीं मेह के लहरे का ही, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है !
अब घन-गर्जन-गान कहाँ है !

टहनी पर बैठी गौरैया
चहक-चहककर कहती, भैया !—
नहीं कड़कते बादल का ही, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है !
अब घन-गर्जन-गान कहाँ है !

७६

भीगी रात विदा अब होती।

रोते - रोते रक्त - नयन हो,
पीत - वदन हो, छाया-तन हो
पार क्षितिज के रजनी जाती अपना अंचल-छोर निचोती।
भीगी रात विदा अब होती।

प्राची से ऊषा हँस पडती,
विहगावलियाँ नौबत झड़ती,
पल में निर्मम प्रकृति निशा के रोदन की सब चिंता खोती।
भीगी रात विदा अब होती।

हाथ बढा सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के,
अपने गीले पंख सुखाते तरु पर बैठ कपोत - कपोती।
भीगी रात विदा अब होती।

८०

मैं कल रात नहीं रोया था!

दुख सब जीवन के विस्मृतकर,
तेरे वक्षस्थल पर सिर धर,
तेरी गोदी में चिड़िया के बच्चे-सा छिपकर सोया था!
मैं कल रात नहीं रोया था!

प्यार-भरे उपवन में घूमा,
फल खाए, फूलों को चूमा,
कल दुर्दिन का भार न अपने पंखों पर मैंने ढोया था!
मैं कल रात नहीं रोया था!

आँसू के दाने बरसाकर
किन आँखों ने तेरे उर पर
ऐसे सपनों के मधुवन का मधुमय बीज, बता, बोया था!
मैं कल रात नहीं रोया था!

८१

मैं उसे फिर पा गया था!

था वही तन, था वही मन,
था वही सुकुमार दर्शन,
एक क्षण सौभाग्य का छूटा हुआ सा आ गया था!
मैं उसे फिर पा गया था!

वह न बोली, मैं न बोला,
वह न डोली, मैं न डोला,
पर लगा पल में युगों का हाल-चाल बता गया था!
मैं उसे फिर पा गया था!

चार लोचन डबडबाए!
शब्द सुख कैसे बताए?
देवता का अश्रु मानव के नयन में छा गया था!
मैं उसे फिर पा गया था!

८२

स्वप्न था मेरा भयकर !

रात का-सा था अँधेरा,
बादलों का था न डेरा,
किंतु फिर भी चद्र-तारों से हुआ था हीन अबर !
स्वप्न था मेरा भयकर !

क्षीण सरिता बह रही थी,
कूल से यह कह रही थी—
'शीघ्र ही मैं सूखने को भेंट ले मुझको हृदय भर !
स्वप्न था मेरा भयकर !

धार से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ चादर
एक मुर्दा गा रहा था बैठकर जलती चिता पर !
स्वप्न था, मेरा भयकर !

८३

हूँ जैसा तुमने कर डाला !

पुण्य किया, पापों मे डूबा,
सुख से ऊबा, दुख से ऊबा;
इमसे यह सब करा तुम्हींने अपना कोई अर्थ निकाला !
हूँ जैसा तुमने कर डाला !

क्षय मेरा, निर्माण जगत का !
लय मेरा, उत्थान जगत का !
जग का और हमारा तुमने जोड़ दिया सबध निराला !
हूँ जैसा तुमने कर डाला !

पूछा जब, 'क्यों जीवन जग मे ?'
कभी चहककर किसी विहग में,
कभी किसी तरु मे कर 'मरमर', प्रश्न हमारा तुमने टाला !
हूँ जैसा तुमने कर डाला !

८४

मैं गाता, शून्य सुना करता !

इसको अपना सौभाग्य कहूँ
अथवा दुर्भाग्य इसे समझूँ,
वह प्राप्त हुआ बन चिर-संगी जिससे था मैं पहले डरता !
मैं गाता, शून्य सुना करता !

जब सबने मुझको छोड़ दिया,
जब सबने नाता तोड़ लिया,
यह पास चला मेरे आया सब रिक्त स्थानों को भरता !
मैं गाता, शून्य सुना करता !

मेरे मन की दुर्बलता पर—
मेरी मानी मानवता पर—
हँसता तो है यह शून्य नहीं, यदि इसपर सिर न धुना करता !
मैं गाता, शून्य सुना करता !

८५

मधुप, नही अब मधुवन तेरा !

तेरे साथ खिलीं जो कलियाँ,
रूप - रगमय कुसुमावलियाँ,
वे कबकी धरती में सोईं होगा उनका फिर न सवेरा !
मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा !

नूतन मुकुलित कलिकाओं पर,
उपवन की नव आशाओं पर
नहीं सोहता, पागल, तेरा दुर्बल - दीन - अमगल फेरा !
मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा !

जहाँ प्यार बरसा था तुझपर,
वहाँ दया की भिक्षा लेकर
जीने की लज्जा को कैसे सहता है, मानी, मन तेरा !
मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा !

८६

आओ, हम पथ से हट जाएँ!

युवती और युवक मदमाते
उत्सव आज मनाने आते,
लिए नयन में स्वप्न, वचन में हर्ष, हृदय में अभिलाषाएँ!
आओ, हम पथ से हट जाएँ!

इनकी इन मधुमय घड़ियों में,
हास-लास की फुलझड़ियों मे
हम न अमगल शब्द निकालें, हम न अमगल अश्रु बहाएँ!
आओ, हम पथ से हट जाएँ!

यदि इनका सुख सपना टूटे,
काल इन्हें भी हम-सा लूटे,
धैर्य बँधाएँ इनके उर को हम पथिकों की करुण कथाएँ!
आओ, हम पथ से हट जाएँ!

८७

क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ ?

यौवन के उजड़े प्रदेश के
इस उर के ध्वंसावशेष के
भग्न शिला-खंडों से क्या मैं फिर आशा की भीत उठाऊँ ?
क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ ?

स्वप्नों के इस रंगमहल में
हँसूँ निशा की चहल-पहल में ?
या इस खंडहर की समाधि पर बैठ रुदन को गीत बनाऊँ ?
क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ ?

इसमें करुणास्मृतियाँ सोईं,
इसमें मेरी निधियाँ सोईं,
इसका नाम-निशान मिटाऊँ या मैं इस पर दीप जलाऊँ ?
क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ ?

८८

किस कर में यह वीणा धर दूँ?

देवों ने था जिसे बनाया,
देवों ने था जिसे बजाया,
मानव के हाथों में कैसे इसको आज समर्पित कर दूँ!
किस कर में यह वीणा धर दूँ?

इसने स्वर्ग रिझाना सीखा,
स्वर्गिक तान सुनाना सीखा,
जगती को खुश करनेवाले स्वर से कैसे इसको भर दूँ!
किस कर में यह वीणा धर दूँ?

क्यों बाकी अभिलाषा मन में,
झंकृत हो यह फिर जीवन में?
क्यों न हृदय निर्मम हो कहता अंगारे अब धर इसपर दूँ!
किस कर में यह वीणा धर दूँ?

८९

फिर भी जीवन की अभिलाषा !

दुर्दिन की दुर्भाग्य निशा मे,
लीन हुए अज्ञात दिशा मे
साथी जो समझा करते थे मेरे पागल मन की भाषा !
फिर भी जीवन की अभिलाषा !

सुखी किरण दिन की जो खोई,
मिली न सपनों में भी कोई,
फिर प्रभात होगा, इसको भी रही नहीं प्राची से आशा !
फिर भी जीवन की अभिलाषा !

शून्य प्रतीक्षा मे है मेरी,
गिनती के क्षण की है देरी,
अंधकार में समा जायगा संसृति का सब खेल-तमाशा !
फिर भी जीवन की अभिलाषा !

८८

किस कर में यह वीणा धर दूँ ?

देवों ने था जिसे बनाया,
देवों ने था जिसे बजाया,
मानव के हाथों में कैसे इसको आज समर्पित कर दूँ ?
किस कर में यह वीणा धर दूँ ?

इसने स्वर्ग रिझाना सीखा,
स्वर्गिक तान सुनाना सीखा,
जगती को खुश करनेवाले स्वर से कैसे इसको भर दूँ ?
किस कर में यह वीणा धर दूँ ?

क्यों बाक़ी अभिलाषा मन में,
झंकृत हो यह फिर जीवन में ?
क्यों न हृदय निर्मम हो कहता अंगारे अब धर इसपर दूँ ?
किस कर में यह वीणा धर दूँ ?

९१

सचमुच तेरी बड़ी निराशा !

जल की धार पड़ी दिखलाई,
जिसने तेरी प्यास बढ़ाई,
मरुथल में मृगजल के पीछे दौड़ मिटी सब तेरी आशा !
सचमुच तेरी बड़ी निराशा !

तूने समझा देव मनुज है,
पाया तूने मनुज दनुज है,
बाध्य घृणा करने को यों है पूजा करने की अभिलाषा !
सचमुच तेरी बड़ी निराशा !

समझा तूने प्यार अमर है,
तूने पाया वह नश्वर है,
छोटे से जीवन से की है तूने बड़ी-बड़ी प्रत्याशा !
सचमुच तेरी बड़ी निराशा !

९०

जग ने तुझे निराश किया !

डूब-डूबकर मन के अंदर
लाया तू निज भावों के स्वर,
कभी न उनकी सच्चाई पर जगती ने विश्वास किया !
जग ने तुझे निराश किया !

तूने अपनी प्यास बताई,
जग ने समझा तू मधुपायी,
सौरभ समझा, जिसको तूने कहकर निज उच्छ्वास दिया !
जग ने तुझे निराश किया !

पूछा, निज रोदन में सकरुण
तूने दिखलाए क्या-क्या गुण ?
कविता कहकर जग ने तेरे क्रंदन का उपहास किया !
जग ने तुझे निराश किया !

९३

मूल्य अब मैं दे चुका हूँ!

स्वप्न-थल का पा निमंत्रण,
प्यार का देकर अमर धन,
वेदनाओं की तरी में स्थान अपना ले चुका हूँ!
मूल्य अब मैं दे चुका हूँ!

उठ पडा तूफान, देखो!
मैं नही हैरान, देखो!
एक झंझावात भीषण मैं हृदय में से चुका हूँ!
मूल्य अब मैं दे चुका हूँ!

क्यों विहँसता छोर देखूँ?
क्यों लहर का जोर देखूँ?
मैं भँवर के बीच में अब नाव अपनी खे चुका हूँ!
मूल्य अब मैं दे चुका हूँ!

९२

क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

अगणित उन्मादों के क्षण हैं,
अगणित अवसादों के क्षण हैं,
रजनी की सूनी घड़ियों को किन-किन से आबाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

याद सुखों की आँसू लाती,
दुख की, दिल भारी कर जाती,
दोष किसे दूँ जब अपने से अपने दिन बर्बाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

दोनों करके पछताता हूँ,
सोच नहीं, पर, मैं पाता हूँ,
सुधियों के बंधन से कैसे अपने को आज़ाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !

९५

साथी, सब कुछ सहना होगा!

मानव पर जगती का शासन,
जगती पर संसृति का बंधन,
संसृति को भी और किसी के प्रतिबंधों में रहना होगा!
साथी सब कुछ सहना होगा!

हम क्या हैं जगती के सर में!
जगती क्या, संसृति सागर में!
एक प्रबल धारा में हमको लघु तिनके-सा बहना होगा!
साथी, सब कुछ सहना होगा!

आओ अपनी लघुता जानें,
अपनी निर्बलता पहचानें,
जैसे जग रहता आया है उसी तरह से रहना होगा!
साथी सब कुछ सहना होगा!

९४

तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

ध्येय न हो, पर है मग आगे,
बस धरता चल तू पग आगे,
बैठ न चलनेवालों के दल में तू आज तमाशा बनकर !
तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

मानव का इतिहास रहेगा
कहीं, पुकार-पुकार कहेगा—
निश्चय था गिर मर जाएगा चलता किंतु रहा जीवन भर !
तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

जीवित भी 'तू आज मरा-सा
पर मेरी तो यह अभिलाषा—
चिता-निकट भी पहुँच सकूँ मैं अपने पैरों-पैरों चलकर !
तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

९७

साथी, हमें अलग होना है !

भार उठाते सब अपने बल,
संवेदना प्रथा है केवल,
अपने सुख-दुख के बोझे को सबको अलग-अलग ढोना है !
साथी, हमें अलग होना है !

संग क्षणिक ही तेरा-मेरा,
एक रहा कुछ दिन पथ-डेरा,
जो कुछ भी पाया है हमने, एक न एक समय खोना है !
साथी, हमें अलग होना है !

मिलकर एक गीत, आ, गालें,
मिलकर दो-दो अश्रु बहालें,
अलग-अलग ही अब से हमको जीवन में गाना-रोना है !
साथी, हमें अलग होना है !

९६

साथी, साथ न देगा दुख भी !

काल छीनने दुख आता है,
जब दुख भी प्रिय हो जाता है,
नहीं चाहते जब हम दुख के बदले में लेना चिर सुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

जिस परवशता का कर अनुभव
अश्रु बहाना पड़ता नीरव,
उसी विवशता से दुनिया में होना पड़ता है हँसमुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

इसे कहूँ कर्तव्य-सुघरता
या विरक्ति या केवल जड़ता ?
भिन्न दुखों से, भिन्न सुखों से होता है जीवन का रुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

९९

जाओ कल्पित साथी मन के!

जब नयनों मे सूनापन था,
जर्जर तन था, जर्जर मन था,
तब तुम ही अवलंब हुए थे मेरे एकाकी जीवन के!
जाओ कल्पित साथी मन के!

सच, मैंने परमार्थ न सीखा,
लेकिन मैंने स्वार्थ न सीखा,
तुम जग के हो, रहो न बनकर बंदी मेरे भुज-बंधन के!
जाओ कल्पित साथी मन के!

जाओ जग मे भुज फैलाए,
जिसमे सारा विश्व समाए,
साथी बनो जगत में जाकर मुझ-से अगणित दुखिया जन के!
जाओ कल्पित साथी मन के!

—

९८

जय हो, हे ससार, तुम्हारी!

जहाँ झुके हम वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटे हम वहाँ बनो तुम,
तुम जीतो उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी!
जय हो, हे ससार, तुम्हारी!

मानव का सच हो सपना सब,
हमे चाहिए और न कुछ अब,
याद रहे हमको बस इतना—मानव जाति हमारी!
जय हो, हे ससार, तुम्हारी!

अनायास निकली यह वाणी,
यह निश्चय होगी कल्याणी,
जग को शुभाशीष देने के हम दुखिया अधिकारी!
जय हो, हे ससार, तुम्हारी!

निशा निमंत्रण के गीतों की

अकारादि क्रम से प्रथम पंक्ति-सूची

१००

विश्व को उपहार मेरा !

पा जिन्हें धनपति, अकिंचन,
खो जिन्हें सम्राट निर्धन,
भावनाओं से भरा है आज भी भंडार मेरा !
विश्व को उपहार मेरा !

थकित, आजा ! व्यथित, आजा !
दलित, आजा ! पतित, आजा !
स्थान किसको दे न सकता स्वप्न का संसार मेरा ?
विश्व को उपहार मेरा !

लें तृषित जग होठ तेरे
लोचनों का नीर मेरे !
मिल न पाया प्यार जिनको आज उनको प्यार मेरा !
विश्व को उपहार मेरा !

समाप्त

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
क—	क्या कंकड़-पत्थर चुन लाऊँ ..	८७
	क्या भूलूँ क्या याद करूँ मैं . .	९२
	क्या मै जीवन से भागा था	६४
	क्यों रोता है जड तकियों पर ...	५४
ख—	खेल चुके हम फाग समय से	५०
ग—	गिरजा से घंटे की टन-टन	१६
च—	चल बसी संध्या गगन से	६
ज—	जग का मेरा प्यार नही था	६१
	जग ने तुझे निराश किया	६०
	जग बदलेगा किंतु न जीवन	५७
	जय हो, हे संसार तुम्हारी	६८
	जाओ कल्पित साथी मन के	६६
त—	तम ने जीवन तरु को घेरा	२०
	तारक-दल छिपता जाता है	७५
	तुम तूफान समझ पाओगे	१०
	तू क्यों बैठ गया है पथ पर	६४

प्रथम पंक्ति

क्रम संख्या

प्रथम पक्ति		क्रम सख्या

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या

प्रथम पक्ति		क्रम संख्या
व—	विश्व को उपहार मेरा	१००
	विश्व मनाएगा कल होली	४६
	विश्व सारा सो रहा है	३४
श—	श्यामा तरु पर बोलने लगी	७३
	शुरू हुआ उजियाला होना	७६
स—	सध्या सिंदूर लुटाती है	४
	सचमुच तेरी बड़ी निराशा	६१
	साथी, अत दिवस का आया	२
	साथी, कर न आज दुराव	५१
	साथी, कवि-नयनों का पानी	५६
	साथी, घर-घर आज दिवाली	२७
	साथी, देख उल्कापात	३१
	साथी, नया वर्ष आया है	४६
	साथी, सब कुछ सहना होगा	६५
	साथी, साँझ लगी अब होने	३
	साथी, साथ न देगा दुख भी	६६

बच्चन की

अन्य प्रकाशित रचनाओं का विवरण

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

हलाहल

(कवि की नवीनतम रचना)

यह रचना बच्चन ने सन १९४५ में समाप्त की, उसका आरम्भ [illegible] इससे दस वर्ष पूर्व हुआ था। सन् १९३६ के [illegible] में 'हलाहल' के पद्रह पद निम्नलिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे।

'मधुशाला के समान मैं हलाहल पर भी चतुष्पदियों में [illegible] बंदी लिख रहा हूँ। पूर्ण रचना में संभवतः [illegible] पद होंगे। अब तक रचे हुए पदों में से कुछ चुनकर [illegible] के लिए भेज रहा हूँ। यहाँ लिए गए सभी पद अलग हैं। पूर्ण रचना पुस्तक रूप में यथा समय प्रकाशित की जायगी।'

और इसके पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की नौबत आई है १९४६ में। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रचना दस वर्ष तक [illegible] मानस मथन करती रही है। स्वाभाविक ही उसमें इतनी [illegible] अवधि की भावनाएँ, कल्पनाएँ, आशाएँ, शंकाएँ एवं मान्यताएँ प्रतिबिंबित हुई हैं।

हलाहल में १४८ चतुष्पदियाँ हैं। पर इसको केवल [illegible] का सग्रह समझना भूल होगी। और यह बात मधुशाला के संबंध में भी उतनी ही सच है जितनी हलाहल के सबध में। प्रत्येक पद अपने में सपूर्ण होते हुए भी रचना के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देता है। रचना का मनोरजक इतिहास देकर तथा अपने एक प्रतिभाशाली मित्र से 'आमत्रण' लिखाकर कवि ने इसे और भी रोचक बना दिया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

हलाहल

(कवि की नवीनतम रचना)

यह रचना बच्चन ने सन् १९४५ में सपूर्ण की, परतु इसका आरभ इससे दस वर्ष पूर्व हुआ था। सन् १९३६ के फरवरी मास की सरस्वती मे 'हलाहल' के पद्रह पद निम्नलिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे।

'मधुशाला के समान मैं हलाहल पर भी चतुष्पदियों में एक तुक-बंदी लिख रहा हूँ। पूर्ण रचना मे सभवतः सौ-सवासौ से ऊपर पद होंगे। अब तक रचे हुए पदो में से कुछ चुनकर सरस्वती के लिए भेज रहा हूँ। यहाँ लिए गए सभी पद अक्रम हैं। पूर्ण रचना पुस्तक रूप में यथा समय प्रकाशित की जायगी।'

और इसके पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की नौबत आई है १९४६ मे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रचना दश वर्ष तक कवि का मानस-मथन करती रही है। स्वाभाविक ही इसमें उनकी इस लबी अवधि की भावनाएँ, कल्पनाएँ, आशाएँ, शकाएँ एव मान्यताएँ प्रतिबिंबित हुई हैं।

हलाहल मे १४८ चतुष्पदियाँ हैं। पर इसको केवल मुक्तकों का संग्रह समझना भूल होगी। और यह बात मधुशाला के सबंध मे भी उतनी ही सच है जितनी हलाहल के सबध मे। प्रत्येक पद अपने मे सपूर्ण होते हुए भी रचना के उत्तरोत्तर विकास मे सहयोग देता है। रचना का मनोरजक इतिहास देकर तथा अपने एक प्रतिभाशाली मित्र से 'आमत्रण' लिखाकर कवि ने इसे और भी रोचक बना दिया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

बंगाल का काल

(कवि का नवीनतम प्रकाशन)

सन् १९४३ का दुर्भिक्ष जिसमें बगाल के लगभग आधे करोड मनुष्य भूख की विकराल ज्वाला में स्वाहा हो गए, शासकों के निर्दय अत्याचार, पूँजीपतियो की निर्मम स्वार्थपरता और देशवासियों की दयनीय नपुसकता का प्रतीक बनकर आनेवाली न जाने कितनी सदियों के ऊपर अपनी अमगल छाया डालता रहेगा।

यह रचना इसी भीषण अकाल के प्रति कवि की प्रतिक्रिया है। यह १९४३ में ही लिखी गई थी, परतु समय की दमन पूर्ण परिस्थिति मे इसे प्रकाशित करना असभव था। तब इसकी केवल सौ पक्तियाँ श्रीमती महादेवी वर्मा के 'बग दर्शन' में छापी जा सकी थीं। अब सपूर्ण रचना जिसमें एक हजार से अधिक पक्तियाँ हैं पुस्तक रूप मे प्रकाशित हो गई है।

बच्चन की रचनाओं में 'बगाल का काल' एक नए प्रकार की चीज है। इसमे पहली बार आतरिक अनुभूतियो के कवि ने अपनी आँख बाहर की ओर फेरी है। यहाँ भी उनकी दृष्टि मे मौलिकता है। बग दुर्भिक्ष पर बहुत कुछ लिखा गया है, परतु प्रस्तुत रचना में उसके प्रति कवि का अपना मनोवेग है, अपना दृष्टिकोण है और अपने विचार हैं। इस दृष्टिकोण की सार्थकता इतने से ही सिद्ध है कि जेलों से निकलकर हमारे बडे-बडे नेता भी उन्ही स्वरों मे बोले हैं जिसमे बच्चन की वाणी आज से तीन वर्ष पूर्व मुखरित हो चुकी थी।

इसमे आप बच्चन के कवि और मानव, दोनो का एक नया ही रूप देखेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सतरंगिनी

(दूसरा संस्करण)

यह कवि की १९४२-४४ में लिखित सौंदर्य, प्रेम और यौवन के ५० गीतों का सग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल, १९४५ मे प्रकाशित हुआ था। सौंदर्य, प्रेम और यौवन कवि के लिए नए विषय नहीं हैं। मधुशाला और मधुबाला की पक्ति-पक्ति में सौंदर्य की दुर्दम आसक्ति है, प्रेम की अमिट प्यास है और है यौवन का अनियंत्रित उन्माद। पर निशानिमत्रण के अंधकार और एकात सगीत के एकाकीपन से निकलकर जब कवि ने पुनः उन विषयों पर लेखनी उठाई है तब उसने केवल एक पिछले अनुभव को नहीं दुहराया। सौंदर्य पर मुग्ध होनेवाली आँखों ने जीवन की बहुत कुछ असुदरता भी देखी है, प्रेम के प्यासे हृदय ने उपेक्षा और घृणा का भी अनुभव किया है और उषा की मुसकान में नहाती हुई काया कितनी बार तिमिर के सागर में डूब-उतरा चुकी है।

मधुशाला और मधुबाला में जो सौंदर्य, प्रेम और यौवन है उसके आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा हुआ है। सतरगिनी में उनके प्रति अडिग विश्वास है, वे अब केवल व्यक्ति की प्रेरणा मात्र न होकर विश्व जीवन की वह धुरी हैं जिनपर वह युग-युग मे घूमता आया है और घूमता जायगा।

बच्चन ने जीवन की मान्यताओं को सहज में ही कभी स्वीकार नहीं किया। उनका यह परिणाम भी स्वानुभव का मूल्य देकर सचित किया गया है, पुस्तक पढकर देखिए।

नया सस्करण छपकर तैयार हो गया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

आकुल अंतर

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९४०-४२ में लिखित ७१ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी '४३ मे प्रकाशित हुआ था। कवि को अपनी पिछली रचना 'एकात संगीत' लिखते समय आभास हुआ था कि उसकी कई कविताएँ आतरिक अशाति को व्यक्त न करके वाह्य विह्वलता को मुखरित करती हैं। इस कारण भविष्य में उन्होंने अपने गीतों को 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' दो मालाओं में रखकर आतरिक और वाह्य दोनों प्रकार की विक्षुब्धता को अलग अलग वाणी देने का निश्चय किया था। दोनों मालाओं के गीत इन तीन वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इस पुस्तक में कवि ने 'आकुल अतर' माला के अतर्गत लिखित ७१ गीतों को संगृहीत किया है।

'एकात संगीत' से 'आकुल अतर' में कितना परिवर्तन आया है, वह केवल इस बात से प्रकट हो जायगा कि 'एकात सगीत' का अतिम गीत था 'कितना अकेला आज मैं' और 'आकुल अतर' का अतिम गीत है 'तू एकाकी तो गुनहगार'। भावों की किन-किन अवस्थाओं से यह परिवर्तन आया है, इसे देखना हो तो 'आकुल अतर' पढिए। 'निशा निमत्रण' के अधकार पूर्ण और 'एकात सगीत' के विषाद मय वातावरण के साथ सघर्ष करके यहाँ पर कवि आपको जग और जीवन के साथ एक बार फिर से नया सबंध स्थापित करता हुआ दिखाई पडेगा।

छंद और तुक के बधनों से मुक्त केवल लय के आधार पर लिखे गए कुछ गीत हिंदी के लिए सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग हैं।

नया सस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

एकांत संगीत

(चौथा संस्करण)

यह कवि की १९३८-३९ में लिखित एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवम्बर, १९३९ मे प्रकाशित हुआ था। देखने में यह गीत 'निशा निमंत्रण' के गीतो की शैली में प्रतीत होते हैं, परंतु पद, पंक्ति, तुक, मात्रा आदि में अनेक स्थानों पर स्वतन्त्रता लेकर कवि ने इनकी एकरूपता में भी विभिन्नता उत्पन्न की है। विचारों की एकता, गठन और अपने आप में पूर्णता जो 'निशा निमंत्रण' के गीतों की विशेषता थी उसकी यहाँ भी पूरी तरह रक्षा की गई है।

कवि ने जिस एकाकीपन का अनुभव 'निशा निमंत्रण' में मुखरित किया था उसकी यहाँ चरम सीमा पहुँच गई है। 'कल्पित साथी' भी साथ में नहीं है। कवि के हृदय में वेदना इतनी घनीभूत हो गई है कि उसे बताने के लिए वातावरण की सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। गीतों का क्रम रचना-क्रम के अनुसार होने से कवि की भावनाओं का जैसा स्वाभाविक चित्र यहाँ आपको मिलेगा वैसा और किसी कृति में नहीं।

कवि ने जीवन के एकात मे क्या देखा, क्या अनुभव किया, क्या सोचा, यदि इसे जानना चाहते हैं तो एकात सगीत को लेकर एकात में बैठ जाइए। जीवन मे एक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति एकाकी है। इन गीतों को पढते हुए आप यही अनुभव करेंगे कि जैसे आपके ही जीवन के एकाकी क्षणों के चिंतन और मनन को कवि ने वाणी प्रदान कर दी है। बच्चन की यह विशेषता है कि वह व्यक्तिगत अनुभवों को कला के धरातल पर लाकर सार्वजनीन बना देते हैं।

नया सस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुकलश

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३५-३६ में लिखित 'मधुकलश', 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा', 'कवि का गीत', 'पथभ्रष्ट', 'कवि का उपहास', 'लहरों का निमन्त्रण', 'मेघदूत के प्रति' आदि प्रसिद्धि प्राप्त कविताओं का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जुलाई, १९३९ मे प्रकाशित हुआ था।

आधुनिक समय में समालोचकों द्वारा बच्चन की कविताओ का जितना विरोध हुआ है संभवत. उतना और किसी कवि का नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियों की कटु आलोचनाओं का उत्तर कभी नहीं दिया परतु उससे जो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया हुई है उसे अवश्य काव्य में व्यक्त किया है। उत्तर प्रत्युत्तर मे जो बात कटु हो जाती वही कविता में किस प्रकार मधुर हो गई है, 'मधुकलश' की अधिकाश कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि ने चारों ओर के आक्रमण के बीच किन भावनाओं और विचारों से अपनी सत्ता को स्थिर रक्खा है उसे देखना हो तो आप 'मधुकलश' की कविताएँ पढिए। इनके अदर साहित्य के आलोचको को ही नहीं जीवन के आलोचकों को भी उत्तर है, कवि के लिए ही नहीं मानवता के लिए भी सदेश है। क्योकि जिस समय यह कविताएँ लिखी गई थी उस समय साहित्यिक सघर्ष के साथ कवि के जीवन में भी सघर्ष चल रहा था और उन्होंने किसी स्थान पर पराजय स्वीकार न करने का दृढ व्रत धारण कर लिया था।

इसी पुस्तक के विषय में विश्वमित्र ने लिखा था, 'बच्चन जी की कविताएँ पढते समय हमें इस बात की प्रसन्नता होती है कि हिंदी का यह कवि मानवता का गीत गाता है।'

नया संस्करण तैयार है। अपनी शीघ्रप्रति मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुबाला

(छठा संस्करण)

यह कवि की १९३४-३५ में लिखित 'मधुबाला' 'मालिक-मधुशाला', 'मधुपायी', 'पथ का गीत', 'सुराही', 'प्याला', 'हाला', 'जीवन तरुवर', 'प्यास', 'बुलबुल' 'पाटल माल', 'इस पार—उस पार', 'पाँच पुकार', 'पगध्वनि' और 'आत्म परिचय' शीर्षक कविताओं का सग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी, १९३६ में प्रकाशित हुआ था।

मधुशाला के पश्चात लिखे गए इन नाटकीय गीतों में मधुबाला और मधुपायी ही नहीं प्याला, हाला और सुराही आदि भी सजीव होकर अपना-अपना गीत गाने लगे हैं। कवि को मधुशाला का गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रह गई, वह स्वय मस्त होकर आत्म-गान करने लगी है। जिस समय यह गीत लिखे गये थे उस समय 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक हिंदी में नए ही थे, फिर भी कवि ने उन्हें अपने कितने भावों, विचारों और कल्पनाओं का केंद्र बना दिया है इसे आप गीतों को पढ़कर स्वयं देख लेंगे। इन गीतों में आप पाएँगे विचारों की नवीनता, भावों की तीव्रता, कल्पना की प्रचुरता और सुस्पष्टता, भाषा की स्वाभाविकता, छदों का स्वछद सगीतात्मक प्रवाह और इन सब के ऊपर वह सूक्ष्म शक्ति जो प्रत्येक हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती कवि का व्यक्तित्व। इन्हीं गीतों के लिए प्रेमचदजी ने लिखा था कि इनमें बच्चन का अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फिलासफ़ी है।

'मधुशाला' की रुबाइयो के लिए आलोचकों ने प्राय: कहा है कि वह उर्दू साहित्य की परंपरा का अनुकरण है। परतु 'मधुबाला' में जिन प्रकार के गीत कवि ने लिखे हैं वे सर्वथा मौलिक हैं। फुटकर शेर और रुबाइयों में विषयों की भरमार होने पर भी उन्होंने उर्दू में कभी ऐसे गीतों का रूप नहीं धारण किया।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुशाला

(सातवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३३-३४ में लिखित १३५ रुबाइयों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ था। हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के केवल चार प्रतीकों और इन्हीं से मिलने वाले कुछ गिनती के तुकों को लेकर बच्चन ने अपने कितने भावों और विचारों को इन रुबाइयों में भर दिया है इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने कभी मधुशाला उनके मुँह से सुनी या स्वयं पढी है। आधुनिक खडी बोली की कोई भी पुस्तक मधुशाला के समान लोकप्रिय नहीं हो सकी इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। अब समालोचकों ने स्वीकार कर लिया है कि मधुशाला में सौंदर्य के माध्यम से क्राति का ज़ोरदार सदेश भी दिया गया है।

कवि ने इसे 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद करने के पश्चात् लिखा था इस कारण वे उसके बाहरी रूपक से प्रभावित अवश्य हुए हैं परंतु यह भीतर से सर्वथा स्वानुभूत और मौलिक रचना है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक भारतीय युवक के हृदय से होती है।

भाव, भाषा, लय और छद एक दूसरे के इतने अनुरूप बन पड़े हैं कि हिंदी से।अपरिचित व्यक्ति भी इसका वैसा ही आनद लेते हैं जैसा कि हिदी से सुपरिचित व्यक्ति। आज ही इसे लेकर बैठ जाइए और इसकी मस्ती से झूम उठिए।

स्वर्गीय प्रेमचद जी ने पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि "मधुशाला हिंदी में बिलकुल नई चीज है; यह श्रेय बचन को ही है कि हिंदी साहित्य में उन्होने मधुशाला भी सजा दी।" इतना हम और कहेगे, आप चाहे जितनी बार इसको पढ़ें हर बार आप को यह नई ही लगेगी।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ख़ैयाम की मधुशाला

(तीसरा संस्करण)

यह फिट्ज़जेराल्ड कृत रुबाइयात उमर ख़ैयाम का पद्यात्मक हिंदी रूपातर है जिसे कवि ने सन् १९३३ में उपस्थित किया था। मूल पुस्तक के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी गणना संसार की सर्वोत्कृष्ट कृतियो में है। अनुवाद मे प्रायः मूल का आनद नहीं आता, परतु बच्चन के अनुवाद में कहीं आपको यह कमी न दिखाई पड़ेगी। वे एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रखने के फेर मे नहीं पडे। उन्होंने उमर ख़ैयाम के भावो को ही प्रधानता दी है। इसी कारण उनकी यह कृति मौलिक रचना का आनद देती है।

स्वर्गीय प्रेमचद जी ने जनवरी '३६ के 'हस' में पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि बच्चन ने उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद नहीं किया, उसी रंग में डूब गए हैं।' हिंदी में पुस्तक के और अनुवाद भी हैं पर 'लीडर' ने स्पष्टतया लिखा था कि:—

......Bachchan has a great advantage over many translators in that he himself feels, for all we know, very much like the poet astronomer of Nishapur

इस सस्करण मे पहली बार अनुवाद के साथ-साथ मूल अंग्रेज़ी, और कवि लिखित सार-गर्भित भूमिका और टिप्पणी भी दी गई है। यदि आप अंग्रेज़ी से भिज्ञ हैं तो अनुवाद की सफलता को आप स्वय देख सकेंगे।

यदि आपने पहले-दूसरे संस्करण देखे भी हैं तो हम आपसे इसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग

(दूसरा संस्करण)

बच्चन की प्रारंभिक रचनाओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '३२ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी दूसरी पुस्तक 'मधुशाला' सन् '३५ में प्रकाशित हुई। इन दोनों पुस्तकों में विचार-धारा तथा कवित्व की दृष्टि से बहुत अंतर था जिससे साधारण पाठक तथा आलोचक दोनों विस्मित थे। इस रहस्य का कारण था कवि की लिखी बीच की कविताओं का प्रकाश में न आना। आज जब उनकी कविताएँ लाखों पाठकों द्वारा पढ़ी जाती हैं और कवि के प्रति उनका सहज प्रेम है तब यह आवश्यक समझा गया कि उनकी बीच की कविताओं का प्रकाशन भी किया जाय। इसी विचार के अनुसार 'तेरा हार' में उसके बाद की २३ और कविताएँ सम्मिलित कर 'प्रारंभिक रचनाएँ' का पहला भाग प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक का दूसरा भाग भी प्रकाशित हो गया है जिससे कि 'मधुशाला' तक की लिखी सब रचनायें पाठकों के सामने आ गई हैं।

यद्यपि यह बच्चन की प्रारंभिक रचनाएँ हैं, फिर भी सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इनकी प्रशंसा की है। बच्चन की कविताओं का क्रम-विकास समझने के लिए इसे देखना बहुत आवश्यक है।

पर इन कविताओं की महत्ता केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। भावना की दृष्टि से भी इनके अंदर वह सचाई है जो अपने को प्रकट करने के लिए किसी कला की प्रौढ़ता की प्रतीक्षा नहीं करती।

बच्चन की समस्त रचनाओं में जो उनके व्यक्तित्व की एकता है, इसके कारण आप उनकी नई रचनाओं का आनंद तभी ले सकेंगे जब उनकी प्रारंभिक रचनाओं से भी आप अच्छी तरह भिज्ञ हों।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद